ज़िन्दगी का सिस्टम

लेखक : आयतुल्लाहिल उज़्मा सय्यदुल उलमा मौलाना सै0 अली नक़ी नक़वी
सम्पादन : नूरे हिदायत फ़ाउण्डेशन

(क़िस्त : २०)

रोज़े के रूहानी फ़ायदे

अब सवाल के इस हिस्से पर नज़र डालने का वक़्त आया है कि इस्लाम ने तीस (30) दिन के रोज़ों क्यों रखे हैं और क्या इसका मक़सद सिर्फ़ रूहानी तरक़्क़ी है?

इसमें कोई शक नहीं कि वह वजिब बातें जो इस्लाम की ज़बान में इबादत के तौर पर रखी गयी हैं यानि जिसमें कुर्बत की नीयत (खुदा के क़रीब होने का इरादा) की जरूरत है, उनका मक़सद ज़रूर रूहानी तरक़्क़ी है। अगर सिर्फ़ जिस्मानी फ़ायदा नज़र में होता तो सिर्फ़ उनका किसी न किसी तरह कर लेना ही चाहे बग़ैर किसी नीयत के हो ज़िम्मादारी के पूरा होने के लिए काफ़ी होता मगर *क़ुरब–तन् इलल्लाह* इस काम के करने का मतलब ये है कि हम इसे रूहानी तरक़्क़ी के लिए करते हैं, मगर इस्लाम की जितनी इबादत हैं वह सिर्फ़ मन और ध्यान से लगाव नहीं रखती कि इस में जिस्म के हिस्सों का कोई सम्बन्ध न हो बल्कि उनमें उठना बैठना और ऐसे तरीक़े भी हैं जो जिस्म से जुड़े हैं। इस लिए रूहानी तरक़्क़ी के साथ उनमें माद्दी (Material) फ़ायदे भी छिपे हैं।

रूहानी तरक़्क़ी एहसास (बोध) व मारेफ़त (ज्ञान/पहचानना) से पैदा होती है, उसका ताल्लुक़ अल्लाह से भी हो सकता है और दूसरे लोगों यानी खुदा के बन्दों से भी, और माद्दी फ़ायदे सिर्फ़ खुद के लिए भी हो सकते हैं और वह भी जो दूसरों तक पहुँचते हैं।

अब देखिए कि ऐसे में रोज़े के कितने फ़ायदे हैं।

सबसे पहली चीज़ रूहानी तरक़्क़ी जो अपने को खुदा का बन्दा (दास) समझने से पैदा होती है, यही इबादत भक्ति की अस्ल रूह और हक़ीक़त है और उससे आदमी को अपने काम की देखरेख का ख़्याल पैदा होता है कि वह कोई ऐसा काम न करें जो खुदा के मर्ज़ी के ख़ेलाफ़ हो।

मिट जाने वालों की आखिरी ऊँचाई वाजिब ('अनन्त', परम अस्तित्व) के साथ ज़्यादा से ज़्यादा जुड़ने में है। और ये रिश्ता मज़बूत होता है अपनी लाग और अपनी ज़रूरत को कुबूल करने से, जितना ज़्यादा उसको अपनी ज़रूरत का खुदा के आगे क़रार होगा उतनी ही उसकी आशा, चाह उसकी तरफ़ ज़्यादा मुड़ेगी और लगाव उसकी तरफ़ ज़्यादा बढ़ेगा और जितना उसकी चाहत का हाथ ज़्यादा फैलेगा उतना ही दाता और सखी (उदार) मालिक की तरफ़ से प्रदान की बारिश ज़्यादा होगी। इसी लाग, ज़रूरत के कुबूल करने का नाम है भक्ति का एहसास और उसी दर्जे को पा लेने का नाम है भक्ति जिस की तरक़्क़ी मानवता का कमाल बल्कि उसकी चोटी है, यहाँ तक कि वह जो विश्व की तरक़्क़ी का आख़री प्वाइन्ट थी यानी हमारे रसूल (स0) की ज़ात, उनके दर्जे की ऊँचाई का सबसे ज़्यादा नमूना जो सामने किया गया और जिसका नाम 'मेराज' है, वह बन्दे की हैसियत या रूप से था। इसी लिए कहा गया: *सुब्हानल्–लज़ी अस्रा बि अब्दिहि लैलम् मिनल मस्जिदिल् हराम् इलल् मस्जिदिल अक़्सा (पाक है वह जो अपने बन्दे/दास को मस्जिदिल हराम (पाक पवित्र मस्जिद) से मस्जिदिल अक़्सा (सबसे दूर वाली/अर्श वाली मस्जिद ले गया)*

इस बन्दे होने के एहसास का असर ज़िन्दगी के हर पहलू पर पड़ेगा और जो काम इस अहसास को पैदा करने वाला हो वह इन्सान की ज़िन्दगी में उसके अ़मल को सुधारने की वजह है। हो सकता है कि कोई काम आने से छोटा हो लेकिन अगर उसने इन्सान के दिल और दिमाग़ को उस के बन्दे होने के एहसास का केन्द्र (Centre) बना दिया तो उसका असर भरपूर होगा जैसा कि कहा गया :

"नमाज़ बुरी बातों से दूर रखने वाली है। ये सिर्फ़ उस एहसास और प्रतिक्रिया (Reaction) की

वजह से जो नमाज़ से इन्सान के मन में पैदा हो सकता है।

अब देखिए कि रोज़ा का फ़ायदा भी कुरान मजीद ने क्या बताया है, पढ़िए इस आयत को *"या अय्युहल्लज़ी–न आ–मनू कुति–ब अ़लैकुमुस्सियामु कमा कुति–ब अ़लल्लज़ी–न मिन क़ब्लिकुम लअ़ल्–लकुम तत्–तकून "*।

[ऐ इमान लाने वालो! तुम पर रोज़ा रखना ऐसा ही फ़र्ज़ (ज़रूरी) किया गया है जैसा तुम से पहले लोगों पर किया गया था। 'शायद' तुम में परहेज़गारी (संयम) पैदा हो जाय।]

तरजुमें में हमने कह दिया "शायद" मगर शायद का मतलब क्या है? याद रखना चाहिए कि तमन्ना, आशा (चाह), सवाल और तअ़ज्जुब के लफ़्ज़ जब हमारी ज़बान पर आते हैं तो उससे कुछ ख़ास तरह की बात ज़ाहिर होती है।

'तमन्ना' एक ऐसी चीज़ के चाहने का पता देती है जिसका पाना आदमी की सकत और बस से बाहर हो, 'तरजी' एक ऐसी चीज़ की उम्मीद को ज़ाहिर करती है जिसके होने का पूरी तरह यक़ीन न हो, सवाल और ताज्जुब वग़ैरह, मगर जब इन लफ़्ज़ों का इस्तेमाल अल्लाह के कहने में आये तो उसमें ऐसी बातें नहीं हो सकती।

वह अल्लाह अगर तमन्ना करे तो ये नहीं समझना चाहिए कि वह उस चीज़ के पाने की चाह करता है मगर ये उसके बस से बाहर है, वह अगर उम्मीद के लफ़्ज़ इस्तेमाल करें तो ये नहीं समझना चाहिए कि वह नतीजे (Result) से अन्जान है।

मआ़ज़ल्लाह, न उसकी क़ुदरत (सकत) में कोई कमी है न उसके इल्म ज्ञान में कमी है, फिर ये हो भी कैसे सकता है बस इस कमी के शुब्हे को दूर रखते हुए जो उन लफ़्ज़ों के माने से जुड़ा मतलब मिले वह ख़ुदा के कलाम (बोल) से साबित रहेगा।

जब वह तमन्ना के लफ़्ज़ इस्तेमाल करे तो यह समझ में आयेगा कि इस काम का होना उसका चहीता है। मगर वह उसको किसी वजह से खुद अपनी ऊपरी ताक़त से करना नहीं चाहता। इसलिये वह अगर ज़िद (उल्ट (Opposite) के अल्फ़ाज़ इस्तेमाल करता है। मिसाल के तौर पर :–

काफ़िरों के बारे में कहे"

"काश! यह लोग ईमान ले आयें।"

इसका मतलब ये होगा कि उनका ईमान लाना केशक ख़ुदा को चहीता है और यही ख़ुदा चाहता है। मगर अपनी हिकमत (समझबूझ) और इस दुनिया के नेज़ाम की (भीतरी) सोच समझ की मजबूरी से जिसकी माँग ये है कि बन्दों के अ़मल खुद उनके (बन्दो के) ही संकल्प से पूरे हों। वह ऊँपरी ताक़त से सबको ईमान के रास्ते पर लाना भी नहीं चाहता इस लिये वह तमन्ना के लफ़्ज़ इस्तेमाल करता है। इसी तरह अगर "लअल्ला" (शायद) का इस्तेमाल हो तो उसके मानी ये होगें कि उस चीज़ के पाने के लिए जो 'शायद' के बाद बयान की गयी हो वह चाहता है। बेशक इसमें शर्ते हट जाने या मौक़ा पैदा होने की उम्मीद है। इसलिये 'लअल्ला' (शायद) इस्तेमाल किया गया अब अगर ये 'लअल्ला' (शायद) किसी ख़ास हुक्म के बाद आये तो ये मतलब होगा कि वह पहले वाला हुक्म उसके बाद वाले नतीजे का चाह और उसकी वजह है।

अब ये आयत *"या अय्युहल्लज़ीना आ–मनू कुतिबा अ़लैकुमुस्सिया–म कमा कुतिबा अ़लल्लज़ी–न मिन क़ब्लिकुम ल–अ़ल्–लकुम तत्तकून"।*

जब पहले टुकड़े को आख़िर के साथ जोड़ कर देखिये तो इसका मतलब ये होगा कि रोज़ा इसलिए वाजिब किया गया कि वह तुम में तक़वा (ख़ुदा का डर, संयम) पैदा होने को चाहता है यानि रोज़े की वजह से तुम्हारे अन्दर तक़वा पैदा होगा।

अब ये बात रह गई कि "शायद" क्यों इस्तेमाल किया गया। सच्चाई ये है कि 'न जानना' कभी तो असल बात से जानकारी न होने का नतीजा होता है और कभी कहने या बताने के मौक़े पर 'अनजानपन' खुद असल बात में तरह–तरह के पहलू और फ़र्क़ का नतीजा होता है। मतलब इसका ये है कि रोज़ा बेशक तक़वा (संयम) की वजह और उसकी मांग है मगर कुछ लोग रोज़े को ऐसे में रखते हैं कि उसका असर नहीं पैदा होने पाता। कुछ लोग इस तरह रखते है कि उसका असर अधूरा होता है। और कम लोग ऐसे हैं जो इस तरह रोज़े को रखें कि उसका असर बिल्कुल पूरा हो जाए।

ख़ुदा का हुक्म अगर सिर्फ़ एक इन्सान के लिए होता तो बेशक वह अपने ज्ञान से हर एक के बारे

में रोज़े का जो नतीजा होगा उसे एक तरह से बयान कर देता। इसी तरह अगर हुक्म बहुत से लोगों के लिए अलग–अलग अपने–अपने निजी गुणों के लेहाज़ से हो जब भी आसान है कि हर एक को अलग–अलग उसका नतीजा बता दिया जाये लेकिन जबकि सबके सब लोगों को एक आम Title से बताया जाए और उस आम Title के ख़ास लोगों में रंग–रंग के और अलग अलग हों तो ज़रूरी है कि बताने के मौक़े पर शक और सन्देह का परदा पड़ जाये, इसलिये नहीं कि उसके जानने में कमी है बल्कि इसलिये कि इस Title के लेहाज़ से कोई एक निश्चित नतीजा नहीं हो सकता। वह अगर *'या अय्–युहल्लज़ी–न'* आ–मनू' से उन पूरे (निपुर्ण) मानवों को मुख़ातिब (Address) कर रहा होता जैसे ख़ास मोहम्मद (स0) व आले मोहम्मद (अ0) को तो उस वक़्त नतीजा एक होता क्यों कि इनका रोज़ा बेशक इसी शान का है जो तक़्वा की ज़मानत (Guarantee) है लेकिन जब कि Address मोमेनीन के समूचे गरोह से है जिसमें पूर्ण–निपुण भी हैं, अधूरे खोटे भी हैं, तो कैसे निश्चित तौर पर कहा जाए कि तुम रोज़ा रखोगे तो तक़्वा का गुण (Quality) ज़रूर पैदा होगा। बेशक ये रोज़ा तक़्वा चाहता है और तक़्वा पैदा करने की वजह बनता है इसलिये इस तरह कह दिया जाता है कि इसके बाद तक़्वा का गुण (Quality) पैदा होने की उम्मीद है, लेकिन तुम्हारा काम है कि तुम इस उम्मीद को पूरा होने दो। और ऐसे मौक़े पैदा न करो जो रोज़े के असर को मिटा दे या उसके असर को अधूरा छोड़ दें। अब देखिये कि ये तक़्वे का गुण है क्या? जिसे रोज़े का मक़सद और नतीजा बताया गया है। मालूम होना चाहिये कि ये गुण इतना ऊँचा है कि इसे आदमी की बड़ाई का मे़यार (Standard) कहा गया है *''इन्–न अक्–र–मकुम इन्दल्लाहि अत्क़ाकुम''*

''तुममे सबसे ज़्यादा इज़्ज़त वाला वह है जो सबसे ज़्यादा तक़्वे का गुण रखता हो। ''लोग तर्जुमा करते हैं कि जो सबसे ज़्यादा ख़ुदा से डरने वाला हो। मगर ख़ुदा से डरने का क्या मतलब है?

याद रखिये कि डरा जाता है तीन तरह की चीज़ों से– एक वह जो देखने में भोंडा और डरावना हो जैसे भूत परैत की ख़्याली मूर्ति या चित्र।

दूसरा वह जिसको आदमी ने पहले कभी न देखा हो और उससे उसका सामना पहली बार हो रहा हो इसलिये उससे जी उकताता और दहलता हो।

तीसरे वह चीज़ जो नुकसान पहुँचाने वाली और दुःख देने वाली हो जैसे ज़हरीले और काटने वाले जानवर या फाड़ खाने वाले जानवर।

अब देखिये कि ख़ुदा में क्या इनमें से कोई चीज़ भी डरने की पायी जाती है? बिल्कुल नहीं। डरावना कैसा!! वह तो परम (Absolute) सौन्दर्य है और आदमी का शुरू से पालने वाला, नाथ और Guardian है, इसकी नेमत और दान में आदमी ने आंखे खोली और एक–एक सांस लेता हुआ आयु के इस प्वाइन्ट तक पहुँचा फिर अगर माँ–बाप के साथ इन्सान को लगाव मोहब्बत होती है तो इससे ज़्यादा लगाव मोहब्बत अपने पालनहार से होना चाहिए। न माज़अल्लाह, वह नुक़सान पहुँचाने वाला है इसके जाबिर (बलशील) व क़हहार (पराक्रमी) होने के वह माने बिल्कुल नहीं जैसे बादशाहों को जाबिर व क़ाहिर कहते हैं। या जैसे गुस्सेदार आदमी से आदमी डरता है कि बात न करें वरना फाड़ खायेगा। ख़ुदा तो वह है कि''

'उसकी रहमत (दया) ग़ज़ब (प्रकोप) के आगे है' वह जाबिर व ज़ालिम (अत्याचारी) बिल्कुल नहीं बल्कि 'टूटी हड्डियों को जोड़ देने वाला है।'

फिर डरना इससे काहे का? सच्चाई में ख़ुदा से इन्सान को नहीं डरना है बल्कि अपने आप से डरना है। उन करतूत से डरना है जो ख़ुदाकी मर्ज़ी के ख़ेलाफ़ हों और जितनी ख़ुदा की महानता मन में ज़्यादा होगी उतना ही अपने कर्म की कमियों का डर ज़्यादा पैदा होगा। इसी का नाम है तक़्वा (संयम) और नतीजा ये होगा। दिल दिमाग़ के असर लेने का ख़ुदा की महानता का एहसास है। जब ये असर आदमी के मन पर बन जायेगा तो आदमी के सारे काम व कर्मों में संतुलन (Balance) पैदा हो जाएगा और हर पल अपने धर्म, कर्त्तव्य को पहचानने की बात पैदा हो जायेगी क्योंकि सारे काम आदमी के जिस्म के हिस्सों के लेहाज़ से बंटे हुए है और जुर्म भी इसी लेहाज़ से बंटे हुए हैं। कुछ आँख के गुनाह हैं, कुछ गुनाह कान से लगाव रखते हैं कुछ छूने से, कुछ हाथों के और कुछ पैरों के, जैसा कि फ्लास्फ़रों ने कहा है कि आदमी का अन्तर्मन अपने एक होने के साथ–साथ सारी शक्तियों का गठजोड़ है जो ताक़त शक्ति अन्तर्मन

को असर में ले लेगी वह एक वक़्त में अकेली जिस्म के सब हिस्सों पर असर कर ले जायेगी और काम व कर्मों में फ़र्ज़ कर्त्तव्य को पहचानने की सकत पैदा कर देगी। जिसका दूसरा नाम है तक़वा (संयम)। इस लेहाज़ से नमाज़ को कहा गया है कि *''इन्नस्सलाता तन्हा अनिल फ़हशाई वल मुनकर''* 'नमाज़ बुरी बातों और गुनाहों से रोकती है।'

और इस लेहाज़ से रोज़े को तक़वा का सबब बताया गया है कि *''कुति–ब अ़लैकुमुस्सियाम''* से *''लअ़ल्लकुम तत्–तक़ून''।*

अब देखिये कि रोज़ा किस तरह आदमी के मन, अन्तर्मन पर ख़ुदा की महानता के असर को बनता है। बात ये है कि आदमी अपनी माद्दी (Material) ज़रूरतों को बहुत कुछ समझता है और इस दरजे तक उसका असर इस पर होता है कि वह अपने को इनके बीच जकड़ा पाता है और इनसे दूर रहना अपने लिये बहुत कठिन समझता है। खाने पीने और ज़िन्दगी की ज़रूरतों की क्या बात, नासमझी की चीज़ें जिसका वह आदी हो जाता है जैसे सिगरेट, बीड़ी, हुक़्क़ा, तम्बाकू वग़ैरह, इनका ऐसा लतिया हो जाता है कि इसके छोड़ने के ख़्याल से ही कांप जाता है। हा, इस मामले में ज़रा किसी की बात पर कम ही ध्यान दे सकता है। आपका कोई दोस्त, कोई सगा सम्बन्धी, कोई आदर वाला आदमी आपसे कहे कि दिन भर भूखे रहो, सिगरेट न पियो, तम्बाकू न खाओ, मैं नहीं समझता कि आप इस बारे में किसी की बात मान लेंगे। मगर रोज़े में सिरजनहार की अनदेखी ताक़त का दबाव होता है जिसके असर से आदमी इन सब बातों से जो आम तौर से उसकी ज़िन्दगी की ज़रूरतों में होती है, उनसे दूर रहता है। आदमी उसके हुक्म के मुक़ाबले में अपनी ज़रूरत को कुछ भी नहीं समझता है और अपनी तकलीफ़ को सह लेता है। याद रखिये इसी एहसास की तरक़्क़ी वह है जो एक वक़्त में आदमी को जेहाद के मैदान में अपनी जान तक की कुर्बानी पर उकसा सकती है, सिर्फ़ इसलिये कि सिरजनहार की महानता और उसके हुक्म की अहमियत का एहसास इतना है कि आदमी अपनी ज़िन्दगी की अहमियत को उसके मुक़ाबले में कम समझने लगा।

बेशक यहां पर ये सवाल पैदा हो सकता है कि खुद रोज़ा रखना इस एहसास पर निर्भर है, यानी अगर इन्सान के मन में उसकी महानता और उसकी अहमियत का असर हुआ ही न हो तो वह रोज़ा रखने का कष्ट क्यों झेलेगा। ख़ुद रोज़ा रखना भी उस एहसास का नतीजा है। फिर रोज़ा इस एहसास के पैदा करने की वजह कैसे समझा जा सकता है। मगर इसका जवाब बिल्कुल आसान है। जिस तरह कसरत ज़ाहिर है कि ताक़त पर निर्भर है। अगर ताक़त ही न हो तो कोई कसरत कैसे कर सकता है, लेकिन खाने पीने से ताक़त भी पैदा होती है। मतलब ये है कि एक ख़ास दर्जे तक ताक़त का जिस्म में होना कसरत के लिए पहले से ज़रूरी है, लेकिन कसरत के ज़रिये यह ताक़त बढ़ती रहती है। इसी तरह जब आदमी रोज़ा रखेगा तो एक ख़ास दर्जे का ख़ुदा का यक़ीन पहले से ज़रूरी होगा। इसीलिये रोज़े की आयत में हुक्म के शुरू में कहा गया है *''या अटयुहल्लज़ीन्न आ–मनू'* अगर ईमान ही न हुआ तो रोज़े के हुक्म का मानना न होगा, लेकिन रोज़े से यह सोच और एहसास बढ़ता रहेगा यहां तक कि वह दर्जा मिल जाय जो रोज़े के पहले बिल्कुल न था।

अब एक दूसरा पहलू देखिये। जितने जुर्म अपराध हैं उनका सोता आदमी के लगाव हैं जिनका नाम जज़्बे, भावनाएं है, वह चाहे Nervous सिस्टम के आधीन हों, चाहे इच्छाओं के मातहत हों, आदमी की मानवता/इन्सानियत इन भावनाओं को कन्ट्रोल करने में है। आदमी वह नहीं है जिसे गुस्सा आये ही न। गुस्सा तो इन्सान के लिये एक ज़रूरी चीज़ है जिससे बहुत से सराहना वाले पहलू भी सामने आते हैं लेकिन इन्सान वह है जो गुस्से का बेवजह इस्तेमाल न करे। इन्सान वह नहीं जिसकी इच्छा की ताक़त बिल्कुल मुर्दा हो यानी चाहतों की जिसमें पैदावार ही न हो। ऐसा इन्सान तो रोगी है। इन्सान वह है जो अपनी चाहतों का सही ढंग से सही मौक़े अवसर को देखते हुए पूरा करे। इन्सान और जानवर में यही फ़र्क़ है। खाने की चाह जानवर को भी होती है और इन्सान को भी, मगर जब जानवर को खाने की ख़ाहिश होती है तो वह जिसका भी खेत होगा उसमें चरने लगेगा, अगर इन्सान भी ऐसा हो कि भूख लगी तो जिसका माल मिला खा गया तो उसमें और जानवर में कोई फ़र्क़ नहीं है। गुस्सा इन्सान को भी आता है और जानवर को भी, मगर जानवर को जब गुस्सा आयेगा

तो वह ये नहीं देखेगा कि सामने छोटा बच्चा है या बूढ़ा या जवान, उसे हमला करने से मतलब होगा। अगर इन्सान ने भी गुस्से के वक़्त कब और कहां को न समझा तो उसमें और जानवर में क्या फ़र्क़ है। नहीं बिल्कुल नहीं। इन्सान वह है जो अपने गुस्से और इच्छा (Sexual desires) और अपने सारे मेलानों और चाहतों पर खुद काबू रखे, इन्सान की इन्सानियत इसी से शुरू होती है और इसी पर ख़त्म। इस्लामी शरीयत के सभी इन्सान के इसी गुण को तरक़्क़ी देने वाले हैं। इसने ऐसे ज़रिए पसन्द किये हैं कि इन्सान को अपनी चाहतों पर ज़्यादा से ज़्यादा कन्ट्रोल करने की बात पैदा हो जाये, इसके लिये उसने अलग–अलग तरीक़े अपनाये हैं। जिस तरह जिस्म की कसरत में आपने देखा होगा कि जिस्म को अलग–अलग (Different) पहलुओं की तरफ़ बार–बार मोड़ा जाता है और एक ही भार को अलग–अलग तरह से ऊठाया जाता है और अलग–अलग तरह से घुमाया जाता है, सिर्फ़ इसी लिए कि जिस्म में लोच पैदा हो और इरादे के मातहत जिस तरह हिलने डुलने की ज़रूरत है और जिसका भार जिस तरह उठाना हो, उसकी समाई सकत पैदा हो, इसी तरह इस्लाम ने इन्सान के मन और आत्मा की कसरत की है। और अलग–अलग तरह से इसको अपनी चाहों से मुक़ाबला करने की प्रैक्टिस कराई है। सबसे पहली सूरत ये थी कि इसने इन्सान को तरह–तरह के मज़े वाली चीज़ों के इस्तेमाल से पूरी तरह से मना नहीं किया है। अगर इसने पहले ही से पूरी तरह से दुनिया से नाता तोड़ लेने वाली ज़िन्दगी जीने का हुक्म दिया होता और दुनिया के मज़े से अलग ही कर दिया होता तो फिर भी आसान था कि आदमी की भावनाएं मुर्दा हो जातीं और किसी चीज़ की ख़्वाहिश पैदा ही न होती मगर उसने खाने में एक से एक मज़े की चीज़ों की इजाज़त दी और दुनिया में इन्सान के मुंह और ज़बान के बढ़ावा दिया। फिर भी ये कह दिया कि ख़बरदार उस जानवर का गोश्त खा सकते हो जो हराम नहीं है और ज़बह किया गया हो यानि अल्लाह का नाम लेकर ज़बह किया गया हो। इस तरह इन्सान में अपने फ़र्ज़ कर्त्तव्य की पहचान का जज़्बा जगा रहा। अब बहुत ही मज़ेदार गोश्त सामने है मगर ये पता चला कि वह ज़बीहा (अल्लाह के नाम पर ज़बह करना) नहीं और इन्सान ने उससे मुंह मोड़ा। इसके मानी ये है कि इन्सान अपने पेट को भरने की ख़्वाहिश में आपे से बाहर नहीं हुआ। इसी तरह अच्छे से अच्छे कपड़ा पहने मगर वह शुद्ध रेशम न हो, अब आपको अच्छे से अच्छे कपड़े की फ़िक्र है, फिर भी एक कपड़ा दिखायी देता है जो अगर शुद्ध रेशम है, बहुत उमदा कपड़ा है, दिल तड़पा जाता है, मगर आप इसको लेने से अपने आपको रोक लेते हैं, इसलिये कि वह शरीयत के ख़ेलाफ़ है।

हद ये है कि जैसा मैने दूसरे मौक़े पर कहा है कि वह निरी माददी खाहिशें जो बहुत कम इन्सान और जानवर में फ़र्क़ बाक़ी रखती हैं, उनकी चाहत बहुत हो और एक वक़्त ऐसा आ जाए कि जब सारी दूरियां ख़त्म हो जाएं और दोनों दिल राज़ी, तो फिर भी शरीयत के पाबन्द (बन्धे) इन्सान को ख़्याल आता है कि जब तक वह ख़ास शब्द जिनका नाम है सीग़ए–अ़क़्द (वह खास शब्द जो निकाह के लिए पढ़े जाते हैं) ज़बान पर नहीं आये, उस वक़्त तक ये हराम है। इसके मानी ये है कि मन के जज़्बों के इस ज़ोर में भी इन्सान क़ाबू से बाहर नहीं हुआ और उसके अन्दर फ़र्ज़ का एहसास बाक़ी है।

ये सब सूरतें इन्सान को अपनी ख़ाहिशों पर क़ाबू रखने के लिए थीं मगर ये वह चीज़ें हैं जो बराबर से नाजायज़ हैं। एक इन्सान जो अच्छी सीख में पला है चूंकि वह कभी इन चीज़ों के पास नहीं फटका इसलिये इसे इनकी चाहत भी नहीं है बल्कि मन में अकसर एक तरह की घिन इन चीज़ों से पैदा हो गयी है। वह लाख शराब के दिल लुभाने वाले बयानों को सुने मगर उसके दिल कभी उस तरफ़ नहीं आता इसलिये कभी पी ही नहीं, वह डॉक्टरों की ज़बानी सूअर के गोश्त के फ़ायदे सुनता है, मगर कभी वह उसकी ख़ाहिश नही करता। अगर कोई इसके इस्तेमाल की दावत दे तो एक नफ़रत सी पैदा होगी। यूंही उन सारे गुनाहों जिनसे पूरी तौर पर दूर रहा है इनकी आरज़ू भी इस में बाक़ी नही रही है। कुदरत ने चाहा कि एक ऐसा मौक़ा भी आजाए जब वह ही हलाल और जाएज़ ख़ाहिश जिन्हें इन्सान पूरा करता है उसे एक महदूद वक़्त (सीमित वक़्त) जो काफ़ी लम्बा भी है, रोक दी जायें तो ये है कड़ा इम्तेहान। शराब ना पीना आसान है मगर गर्मी के मौसम में दोपहर के वक़्त जब थोड़ा सा रास्ता चलकर धूप में आये भी हों ठण्डा

पानी सामने कोरे घड़े में रखा देखते हुए इस पानी की तरफ़ मुंह न करें। बड़ी भूख है और रोज़े के उतार का वक़्त, मगर खाने की तरफ़ तवज्जो न हो, हालांकि घन्टों का इन्तेज़ार कैसा मिनट मिनट का इन्तेज़ार हो रहा है मगर ये मिनट का इन्तेज़ार और घड़ी का देखना भी फ़र्ज़ की पहचान का नतीजा है और दूसरी तरह की माद्दी ख़ाहिशों की चीज़ें मौजूद हों मगर फ़र्ज़ का एहसास मौजूद हो, गरम वक़्त में सुहावने हौज़ के पानी में उतरें और दिल चाहे तो डुबकी पर डुबकी लगायें मगर ये फ़र्ज़ का एहसास उसे ऐसा करने से रोक देता है। ये वह चीज़ें है जिससे इन्सान की हर ख़ाहिश इसके क़ाबू में नज़र आती है और ऐसी प्रैक्टिस बराबर करने से उस नेक काम को आसानी के साथ कर लेने की सलाहियत (Capability) पैदा हो जाती है। और इन्सान इस मानवता के गुण में तरक़्क़ी करता है जहां तक पहुँचना इन्सान का अस्ली मक़सद ध्येय है।

इसके अलावा रोज़े से एक और शिष्ट एहसास इन्सान में पैदा होता है और वह एहसास ग़रीबों की तकलीफ़ और उनके दुखः दर्द को समझना और आदर है। मालदार लोग जिन्हें हर तरह के साधन मिले हुए हैं उन्हें कभी भूख की तकलीफ़ का अन्दाज़ा नहीं होता और इसलिये ग़रीबों की क़दर नहीं करते। उन्हें कभी तकलीफ़ भी हुई तो पाचन की और मेदे की ख़राबी की। जबरान ख़लील जबरान अरब का बहुत बड़ा लेखक (Writer) था। इसने एक क़िस्से में इस सच्चाई को यूं बयान किया है कि "रास्ते से गुज़र रहा था, एक दौलतमन्द को देखा पेट पर हाथ रखे हुये है, मालूम हुआ रात को खाना ज़्यादा खा लिया है, खाने की ज्यादती की वजह से पेट में दर्द हो रहा है।"

आगे बढ़ कर एक ग़रीब को देखा पेट पर हाथ रखे हुये है, मालूम हुआ ये भूखा है और भूख की तकलीफ़ से पेट पर हाथ रखे हुये है। अगर खाने का वह बढ़ा हुआ हिस्सा जो दौलतमन्द ने बेज़रूरत खा लिया था वह इस ग़रीब को मिल जाता तो दोनों इस तकलीफ़ से बचे रहते। न इस अमीर को पेट के दर्द होती और न इस ग़रीब को भूख की तकलीफ़ सहना पड़ती।

शरीयत ने चाहा कि हर साल एक ऐसा मौक़ा भी आ जाये जब लगातार कुछ दिनों के लिये अमीरों को भी भूख की तकलीफ़ का एहसास हो जाये और ग़रीबों की तकलीफ़ की क़द्र और इस तरह वह उनकी ख़बर लेते रहा करें।

ये रूहानी फ़ायदे का पहलू था अब रहे माद्दी फ़ायदे , मैने कहा कि वह दो क़िस्म के है, एक वह जो खुद इस आदमी की ज़ात को पहुॅच सकता है, दूसरे वह जिसका फ़ायदा दूसरों सारे को पहुॅच सकता है। सबसे पहला माद्दी फ़ायदा (Physical Advantage) ये है कि अक्सर इंसान के जिस्म में पित्त, कफ़ वग़ैरह किसी एक जगह ऑतों में जाकर जमा हो जाता है जो रोज़े की वजह से घुल–मिल कर ख़त्म हो जाता है। डाक्टरों से पूछिए खाना छोड़ना अकसर मर्ज़ का रेगुलर इलाज है। और बहुत सी सूरतों में फ़ायदे का है।

दूसरे ये कि पाचने की ख़राबी जो एक तरह से मर्ज़ की जड़ है और इसका सही रहना सेहत (Health) का राज़ है इसके बैलेंस (Balance) को बाक़ी रखने के लिए 11 महीने तक जो मशीन चलती रहती है उसे एक महीने तक किसी हद तक चैन लेने का मौक़ा दिया जाता है। अगर बेएहतियाती (Disbalance) से काम न लिया जाये तो तर्जुबा बताता है कि रमज़ान के महिने के बाद मेदे में नये सिरे से एक ताक़त पैदा हो जाती है और उसका नेज़ाम पहले के से बहुत दुरूस्त हो जाता है।

तीसरे ये कि इन्सान को मेहनत की आदत पड़ती है और सहन की कूवत बढ़ जाती है और इस तरह इसमे ज़िन्दगी की खींचतानी में तरह–तरह के हालात गुज़रने की सकत पैदा होती है। सिपाहियों की फ़ौजी ट्रेनिंग का अन्दाज़ यही होता है कि इन्हें तरह–तरह के यानि सर्द व गर्म हालात का मुक़ाबला कराया जाये और इनको मुश्किलों का सामना करने के लिए तैयार किया जाए। रोज़े से जो सामूहिक (मेल जोल का) फ़ायदा मिल सकता है वह यह है कि एक इन्सान, अगर उसकी आमदनी ज़रूरी खर्चो से ज़्यादा नहीं है, ज़्यादा समाजी और मज़हबी कामों में हिस्सा लेने या दूसरे लोगों की ख़बर लेने (मदद करने) का हौसला रखता है मगर अपने और अपने बाल–बच्चों के खाने के खर्चों के बाद इसको कुछ बचता ही नहीं। समाज के नेक लोग अक्सर ऐसे मक़सद के लिये महीनें में एक बार लज़्ज़तों को छोड़ देने या हफ़्ते में एक दिन गोश्त न खाने को प्रोयोज़ करते हैं।●●●

जारी................